जैन साधना में प्रणव का स्थान

भारतीय संस्कृति मूलत: दो धाराओं में प्रवाहमान रही है। जिन्हें हम क्रमश: वैदिक और श्रमण धाराओं के नाम से जानते हैं। इन दोनों संस्कृतियों की अपनी-अपनी विशिष्टताएँ हैं। किन्तु यहाँ हम उनकी इन विशिष्टताओं की चर्चा में न जाकर मात्र यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि सामान्य रूप से श्रमण संस्कृति में और विशेष रूप से जैन संस्कृति में प्रणव अर्थात् 'ॐ' का क्या स्थान रहा है। वैदिक परम्परा में प्रत्येक साधना और धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन ॐ से ही होता है। वैदिक परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों में 'ॐ' शब्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों का प्रारम्भ भी ॐ से हुआ है। किन्तु जहाँ तक श्रमण परम्परा का प्रश्न है, उसकी दोनों शाखाओं जैन और बौद्ध के प्राचीनतम ग्रन्थों में हमें ॐ शब्द का उल्लेख उनकी अपनी परम्परा के शब्द के रूप में नहीं मिला है। उनकी परम्परा का शब्द है— अर्हम्। उनके किसी भी धार्मिक कार्य का प्रारम्भ अर्हन्तों के नमस्कार से ही होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार वैदिक परम्परा में ॐ की प्रधानता रही है, वैसे ही जैन और बौद्ध परम्पराओं में 'अर्हन् या अर्हम् शब्द की प्रधानता रही है। जैन परम्परा में ॐ के पर्यायवाची 'ओंकार' शब्द का उल्लेख उत्तराध्ययनसूत्र में मिलता है[1]—

न वि मुण्डिएण समणो, ण ओङ्कारेण बम्भणो ।
न मुणि रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ।।

उपरोक्त गाथा में मात्र यह कहा गया है कि ओङ्कार शब्द का जाप करने से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र के इस कथन का फलित भी यही है कि ॐ या ओंकार शब्द मूलत: ब्राह्मण परम्परा का शब्द है। श्रमण धारा का मूल शब्द तो अर्हम् ही है।

किन्तु यहाँ यह बताना अप्रासंगिक नहीं होगा कि भारतीय संस्कृति की ये दो धाराएँ एक दूसरे से अप्रभावित नहीं रही हैं। जहाँ एक ओर श्रमणधारा के अध्यात्मप्रधान निवृत्तिमार्गीय चिन्तन से वैदिक धारा प्रभावित हुई है वहीं दूसरी ओर वैदिकधारा और उससे विकसित ब्राह्मण परम्परा के अनेक कर्मकाण्ड सामान्य रूप से श्रमणधारा और विशेष रूप से जैनधारा में समाविष्ट हुए हैं। यदि कहें तो यह सत्य है कि औपनिषदिक काल से ही वैदिकधारा पर श्रमणधारा प्रभावी होने लगी थी। स्वयं औपनिषदिक चिन्तन श्रमणधारा से प्रभावित चिन्तन है। किन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि लगभग ईसा की ४थी-५वीं शताब्दी से ही ब्राह्मण परम्परा और उससे विकसित हिन्दू धर्म के कर्मकाण्ड ने जैनधारा को प्रभावित किया था। बृहद् हिन्दू-धारा के अनेक तत्त्व जैन परम्परा में प्रविष्ट हुए हैं। न केवल अनेक हिन्दू देवी-देवता, तीर्थङ्करों के यक्ष-यक्षी के रूप में गृहीत हुए, अपितु उनके ग्रहण के साथ-साथ हिन्दू परम्परा की पूजा-पद्धति और कर्मकाण्ड तथा उनसे सम्बन्धित अनेक मन्त्र भी जैन पूजा-पद्धति और साधना के अङ्ग बन गए। जैसे ही जनसाधारण की तान्त्रिक साधनाओं में आस्था बढ़ी, वैसे ही जैन परम्परा में भी हिन्दू तंत्र-साधना-विधि के न केवल कर्मकाण्ड सम्मिलित किये गए, अपितु उनके पूजा, मन्त्र आदि भी यथावत् अथवा किंचित् परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिए गए। बस इसी स्वीकृति के साथ ॐ शब्द भी जैन परम्परा में प्रविष्ट हो गया। न केवल ॐ शब्द अपितु उसके साथ-साथ ह्राँ, ह्रीं, ह्रूँ, ह्रैं, ह्रः आदि बीज मन्त्र भी जैन साधना और पूजा के अङ्ग बन गए। इसके पश्चात् ॐ शब्द को क्रमश: उच्च-उच्च स्थान प्राप्त होने लगा और एक समय ऐसा आया जब इसे पञ्च-परमेष्ठी, जो जैन साधना और उपासना के आदर्श हैं, के समकक्ष मान लिया गया। पञ्च-परमेष्ठी के जप आदि के लिए जो संक्षिप्त मन्त्र बना वह 'असियाउसाय नम:' था। इस मन्त्र को भी आगे संक्षिप्त करते हुए यह कहा गया कि ॐ शब्द मूलत: पञ्च-परमेष्ठियों के प्रथमाक्षरों से ही निर्मित हुआ है। इस सम्बन्ध में द्रव्यसंग्रह की टीका में एक प्राचीन प्राकृत उद्धृत की गई है। वह गाथा इस प्रकार है[2]—

अरिहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झया मुणिणा ।
पढ़मक्खरणिप्पण्णो ओकारो पञ्च परमेट्ठी ।।

अर्थात् अरिहंत का अ, अशरीरी सिद्ध का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ, और मुनि का म मिलकर ही ॐ शब्द का निर्माण होता है। अत: ॐ शब्द का जप करने से पञ्च-परमेष्ठियों का जप सम्पन्न होता है। यहाँ ॐ शब्द को पञ्च परमेष्ठियों का वाचक बताने के लिए जो उपक्रम किया गया है उससे यही सिद्ध होता है कि परवर्ती काल में जैन साधना को वैदिक साधना-पद्धति के साथ जोड़ने के लिए ही ॐ शब्द की इस प्रकार की व्याख्या की गई है। इससे यह फलित होता है कि चाहे मूलत: ॐ शब्द वैदिकधारा का शब्द रहा हो, किन्तु जैनों ने न केवल उसे स्वीकार किया, अपितु उसे पञ्च-परमेष्ठी का प्रतीक मानकर उसके महत्त्व में वृद्धि की।

ॐ को पञ्च-परमेष्ठी का प्रतीक उसी आधार पर बताया जाता है, जिस आधार पर ब्राह्मण परम्परा में उसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ऐसे ईश्वर के त्रयात्मक स्वरूप का वाचक कहा गया है। इस सम्बन्ध में निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं —

अश्च उश्च मश्च तेषां समाहार:।
विष्णु महेश्वर ब्रह्मरूप त्रयात्मके ईश्वरे।
ब्रह्मोकारोऽत्र विज्ञेय: अकारो विष्णुरुच्यते।
महेश्वरो मकारस्तु त्रयमेकत्र तत्त्वत:।

प्रस्तुत श्लोक में ॐ शब्द में निहित 'ओ' को ब्रह्मा का, 'अ' को विष्णु का और 'म्' को महेश्वर का वाचक मानकर उसे इन तीनों देवताओं की एकात्मकता का प्रतीक सिद्ध किया गया है। वस्तुत: यही स्थिति जैनाचार्यों की भी रही है। उन्होंने भी अपने आराध्य पञ्च-परमेष्ठियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के आद्य अक्षरों को लेकर व्याकरण के नियमों के अनुसार उनसे ओम् शब्द को निष्पन्न बताया है। 'ओम्' शब्द पञ्च-परमेष्ठियों के प्रथम अक्षरों से कैसे निष्पन्न होता है? इस सम्बन्ध में वे बताते हैं कि पञ्च-परमेष्ठियों के प्रथम अक्षर अ, अ, आ, उ और म् है। इनमें पहले 'समानः सवर्णे दीर्घी भवति' इस सूत्र से 'अ अ' मिलकर दीर्घ आ बनाकर 'परश्च लोपम्' इससे अक्षर आ का लोप करके अ, अ, आ इन तीनों के स्थान में एक आ सिद्ध किया। फिर 'उवर्णे ओ' इस सूत्र से आ उ के स्थान में ओ बनाया। फिर मुनि के म् से सन्धि करने से 'ओम्', यह शब्द सिद्ध होता है।

जैन परम्परा में हिन्दू परम्परा के अनुरूप ही ॐ शब्द को सर्वविद्याओं का आद्यबीज, सकल आगमों का उपनिषद्भूत तत्त्व अर्थात् सारतत्त्व, सभी विघ्नों का विनाशक, सभी संकल्पों की पूर्ति में कल्पद्रुम के समान परम मङ्गलकारी कहा गया है। जैनों की दिगम्बर परम्परा में ॐ को जिनवाणी का प्रतीक माना गया है। पुनः उसे जिनवाणी का पर्याय भी बताया, क्योंकि उनके अनुसार अर्हन्त् भगवान् की वाणी प्रयत्नजन्य न होने के कारण मात्र अनक्षर ध्वनि रूप होती है। ओंकार शब्द मात्र ध्वनि रूप है और इसीलिए उसमें सर्वभाषारूप में परिणमन करने का सामर्थ्य है। दिगम्बर जैनों का यह विश्वास है कि भगवान् की वाणी दिव्य-ध्वनि रूप होती है। जिसे प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी भाषा में समझ जाता है। जिस प्रकार ब्राह्मण परम्परा में ॐ शब्द को तीनों लोक का वाची माना जाता है, उसी प्रकार जैन परम्परा में भी ॐ शब्द को त्रिलोक का वाची माना गया है। इसमें 'अ' अक्षर अधोलोक का, 'उ' उर्ध्वलोक का और 'म' मध्यलोक का वाची है। इस प्रकार ॐ को लोक का पर्यायवाची भी मान लिया गया। ज्ञातव्य है कि ॐ शब्द की जो-जो व्याख्याएँ जैन परम्परा में की गईं, उनकी समानान्तर व्याख्याएँ वैदिक परम्परा में भी मिल रही हैं। अतः निःसंकोच रूप से यह स्वीकार करना होगा कि ओम् शब्द की ये सभी व्याख्याएँ ब्राह्मण परम्परा से प्रभावित हैं और ब्राह्मण परम्परा के कर्मकाण्ड को स्वीकार करने के साथ ही जैन परम्परा में गृहीत हो गयी हैं। प्राचीनकाल में जैन परम्परा में साधना का मूल मन्त्र 'अर्हम्' ही होता था, किन्तु जब से जैन परम्परा में हिन्दू परम्परा के कर्मकाण्ड प्रविष्ट हुए 'ॐ' शब्द जैन साधना का अभिन्न अङ्ग बन गया। लगभग छठी-सातवीं शती के पश्चात् जैन परम्परा में ध्यान, जप और मन्त्र साधना में 'ॐ' शब्द को स्थान प्राप्त हो गया। जैनों में जप और ध्यान साधना में 'ॐ' और 'अर्हम्' का सम्मिलित रूप 'ॐ अर्हम्' प्रयुक्त होने लगा। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसाय नमः
ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं पार्श्वनाथाय नमः

यह सत्य है कि ओम् और अर्हम् दोनों ही शब्द मूलतः नाद रूप हैं और उनकी विशिष्ट ध्वनि से जो कम्पन उत्पन्न होते हैं वे व्यक्ति और उसके परिवेश को प्रभावित करते हैं। अतः इसमें कोई सन्देह का प्रश्न नहीं है कि इसकी जप साधना से व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके परिवेश में विशिष्ट परिवर्तन न हो। ये परिवर्तन कैसे और किस रूप में घटित होते हैं उसकी चर्चा में न जाकर मैं केवल यह बताना चाहता हूँ कि साधना के क्षेत्र में जो ध्वनिरूप इन शब्दों का प्रयोग हुआ, वह एक विशिष्ट स्थान रखता है। जैन परम्परा में ॐ के महत्त्व और उसके साधनागत प्रयोग में जो अभिवृद्धि हुई, उसका मूल कारण तन्त्र परम्परा का जैन साधना पर प्रभाव ही है। वस्तुतः जैसे-जैसे जैन परम्परा तन्त्र को आत्मसात करती गई, उसके साधना विधान में इन बीज मन्त्रों का महत्त्व बढ़ता गया। यह माना जाने लगा कि नमस्कार महामन्त्र के प्रत्येक पद के प्रारम्भ में प्रणव का उच्चारण करना चाहिए। मल्लिषेणसूरि भैरवपद्मावतीकल्प में लिखते हैं[३] —

पञ्चनमस्कारपदैः प्रत्येकं प्रणवपूर्वहोमान्त्यैः ।
पूर्वोक्तपञ्चशून्यैः परमेष्ठिपदाग्रविन्यस्तैः ।।

इसी बात को श्वेताम्बर चक्रचूड़ामणि श्री यशोभद्रोपध्याय के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि विरचित अद्भुतपद्मावतीकल्प में भी कहा गया है[४]—

होमान्ताः प्रणवनमोमुख्याः पञ्चपरमेष्ठिमध्यगताः ।
ह्राँ ह्रीं ह्रूँ ह्रों ह्रः शरबीजाः प्रान्त्यादिदेशपदाः ।।[५]

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में 'प्रणव' का प्रयोग आध्यात्मिक साधना की अपेक्षा तान्त्रिक साधना में ही अधिक देखा जाता है। भैरवपद्मावतीकल्प के वशीकरणयन्त्राधिकार के निम्न दो श्लोक इसका स्पष्ट प्रमाण है।[६]

भ्रमयुगलं केशि भ्रम माते भ्रम विभ्रमं च मुह्यपदम् ।
मोहय पूर्णैः स्वाहा मन्त्रोऽयं प्रणवपूर्वगतः ।।

अथवा

प्रणवं विच्चे मोहे स्वाहान्तं सप्तलक्षणजाप्येन।
एकाकिनी निशायां सिद्धयाति सा याक्षिणी रण्डा।।

इसी प्रकार भैरवपद्मावतीकल्प के निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है[७]—

प्रणवाद्रिपञ्चशून्यैरभिमन्त्र्य कुमारिकाकुचस्थाने।
अशितुं तयोश्च दधाद् घृतेन सम्मिश्रितान् पूपान्।।
प्रणवः पिङ्गलयुगलं पण्णतिद्वितयं महाविधेयम्।
टान्तद्वयं च होमो दर्पणमन्त्रो जिनोदिष्टः।।

ये उल्लेख इस तथ्य के प्रमाण हैं कि वैदिक परम्परा के कर्मकाण्ड और तन्त्र साधना को जब जैन आचार्यों ने किंचित् परिष्कार एवं परिवर्तन के साथ अपनी परम्परा में गृहीत किया तो अनेक वैदिक देवी-देवताओं के साथ-साथ 'प्रणव' का ग्रहण भी मन्त्र के रूप में, जैन परम्परा में हुआ। मात्र यही नहीं, इन मन्त्रों को 'जिनोदिष्टः' अर्थात् जिनप्रणीत भी कहा गया। इन्हें जिनप्रणीत कहने का तात्पर्य यही था कि इन पर सामान्य जैन की पूर्ण आस्था बनी रहे, क्योंकि मन्त्रों की अपेक्षा उनके प्रति साधक की आस्था ही वस्तुतः फलवती होती है।

जैन परम्परा में तांत्रिक साधना के साथ-साथ आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में और विशेष रूप से ध्यान साधना के क्षेत्र में भी ॐ (प्रणव) को स्थान प्राप्त हुआ है।

जहाँ तक मेरी जानकारी है सर्वप्रथम आचार्य शुभचन्द्र (१०वीं शती) ने ज्ञाणार्णव में पदस्थ ध्यान की चर्चा करते हुए ॐ को जैन परम्परा के ध्यान के क्षेत्र में भी स्थान दिया। आचार्य शुभचन्द्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखते हैं[४] —

स्मर दुःखानलज्वाला-प्रशान्तेर्नवनीरदम्।
प्रणवं वाङ्मयज्ञानप्रदीपं पुण्यशासनम्।।
यस्माच्छब्दात्मकं ज्योतिः प्रसूतमतिनिर्मलम्।
वाच्यवाचकसम्बन्धस्तेनैव परमेष्ठिनः।।
हृत्कञ्जकर्णिकासीनं स्वरव्यञ्जनवेष्ठितम्।
स्फीतमत्यन्तदुर्द्धर्षं देवदैत्येन्द्रपूजितम्।।
प्रक्षरन्मूर्ध्निसंक्रान्तचन्द्रलेखामृतप्लुतम् ।
महाप्रभावसंपन्नं कर्मकक्षहुताशनम्।।
महातत्त्वं महाबीजं महामन्त्रं महत्पदम्।
शरच्चन्द्रनिभं ध्यानी कुम्भकेन विचिन्तयेत्।
सान्द्रसिंदूरवर्णाभं यदि वा विद्रुमप्रभवम्।
चिन्त्यमानं जगत्सर्वं क्षोभयर्तमसंगत्।।
जाम्बूनदनिभं स्तम्भे विद्वेषे कज्जलत्विषम्।
ध्येयं वश्यादिके रक्तं चन्द्राभं कर्मशातने।

हे मुनि, तु प्रणव का स्मरण कर, क्योंकि यह प्रणव नामक अक्षर दुःख रूपी अग्नि की ज्वाला को शान्त करने में मेघ के समान है तथा समस्त वाङ्मय को प्रकाशित करने के लिए ज्ञानरूप दीपक है। इसी प्रणव से शब्दरूप ज्योति उत्पन्न हुई है। यह प्रणव ही पञ्च-परमेष्ठी से वाच्य-वाचक रूप में सम्बन्धित है, परमेष्ठी इस प्रणव के वाच्य हैं और यह प्रणव परमेष्ठी का वाचक है। अतः ध्यान करने वाला संयमी साधक हृदयकमल की कर्णिका में स्थित, स्वर-व्यञ्जन आदि अक्षरों से आवेष्ठित, उज्ज्वल एवं अत्यन्त दुर्धर्ष, सुरासुरों के इन्द्रों से पूजित चन्द्रमा की रेखा से आधृत, महाप्रभा सम्पन्न, महातत्त्व, महाबीज, महापद, महामन्त्र, शरच्चंद्रमा के समान इस ॐ शब्द का कुम्भक प्राणायाम के साथ चिन्तन करे। यह प्रणव अक्षर सिंदूर अथवा मूँगे के समान रक्तवर्णवाला शोभित होता है। इस प्रणव को स्तम्भन के प्रयोग में स्वर्ण के समान पीले रंग का, द्वेष के प्रयोग में कज्जल के समान काले रंग का, वश्यादि के प्रयोग में रक्तवर्ण का, और कर्मों के नाश में श्वेत वर्ण का अनुभव करते हुए ध्यान करे।

इस तथ्य को आचार्य हेमचन्द्र (१२वीं शती) ने भी अपने योगशास्त्र के अष्टम प्रकाश (२९-३१) में प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं[९]—

तथा हृतपद्मध्यस्थं शब्दब्रह्मैककारणम्।
स्वर-व्यञ्जन-संवीतं वाचकं परमेष्ठिनः।।
मूर्ध-संस्थित-शीतांशु-कलामृतरस-प्लुतम् ।
कुम्भकेन महामन्त्रं प्रणवं परिचिन्तयेत्।।
पीतं स्तम्भेऽरुणं वश्ये क्षोभणे विद्रुमप्रभम्।
कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत् कर्मघाते शशिप्रभम्।।

हृदय कमल में स्थिर शब्द-ब्रह्म, वचन-विलास की उत्पत्ति के अद्वितीय कारण, स्वर तथा व्यञ्जन से युक्त, पञ्च-परमेष्ठी के वाचक, मूर्धा में स्थित चन्द्रकला से झरने वाले अमृत के रस से सराबोर, महामन्त्र प्रणव ॐ का कुम्भक करके, ध्यान करना चाहिए।

स्तम्भन के कार्य में पीतवर्ण के, वशीकरण में लाल वर्ण के, क्षोभण कार्य में मूँगे के वर्णवाले, विद्वेषण कार्य में काले वर्ण के और कर्मों का नाश करने के लिए चन्द्रमा के समान उज्ज्वल श्वेत वर्ण के ओंकार का ध्यान करना चाहिए।

उक्त दोनों आचार्यों के इस विधान से यह भी सूचित होता है कि 'ओंकार' का ध्यान कर्मक्षय या आध्यात्मिक साधना के साथ-साथ लौकिक उपलब्धियों के लिए भी आश्चर्यजनक रूप से उपयोगी होता है। फिर भी सत्य तो यह है कि जैन परम्परा में 'प्रणव' की साधना को जो स्थान प्राप्त हुआ है वह वैदिक परम्परा के प्रभाव से ही हुआ है, पहले इसे जैन कर्मकाण्ड और जैन तन्त्र में स्थान मिला और फिर इसे पञ्चपरमेष्ठी का वाचक मानकर ध्यान और आध्यात्मिक साधना का विषय बनाया गया है। बाद में यह कल्पना भी आयी कि तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि प्रणव रूप में होती है, जिसे प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी भाषा में समझ लेता है। इस प्रकार 'प्रणव' समस्त ज्ञान-विज्ञान का आधार भी बन गया।

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा० साध्वी चन्दना, प्रका० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७२, २५/३१।
२. द्रव्य-संग्रह, संपा० दरबारी लाल कोठिया, प्रका० गणेशवर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६६।
३. भैरवपद्मावती कल्प, संपा०के०वी०अभ्यंकर, प्रका०साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, १९३७, ७/२/३।
४. वही, परिशिष्ट१, गाथा-१४।
५. वही, ७/२२।
६. वही, ७/२२-२५।
७. वही, ८/११-१३।
८. ज्ञानार्णव, अनु० पं०बालचन्द्र शास्त्री, प्रका०जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, १९७७, ३८/३१-३७।
९. योगशास्त्र, संपा० मुनि समदर्शी, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६३, ८/२९-३१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org